शब्द–ब्रह्म
E ISSN 2320 – 0871
भारतीय भाषाओं की अंतर्राष्ट्रीय मासिक शोध पत्रिका 17 जून 2025
पीअर रीव्यूड रेफ्रीड रिसर्च जर्नल

आदिकाल और मध्यकाल के समाज सुधारक संत

डॉ.अभिषेक कुमार मिश्र
सहायक आचार्य (हिंदी)
राजकीय महाविद्यालय
ढाढ़ा बुजुर्ग, हाटा, कुशीनगर,
उत्तरप्रदेश, भारत

शोध संक्षेप

हिन्दी साहित्य का आरंभ आदिकालीन साहित्य से माना गया है। इस युग में सिद्धों, नाथों, बौध्दों, जैन संतों ने अपनी साहित्यिक रचनाओं से जनता को प्रभावित किया। इसके पश्चात मध्यकाल से साहित्य की धारा बदल जाती है और भक्ति आन्दोलन का उदय होता है। आदिकाल और भक्तिकालीन युग के साहित्य ने तत्कालीन समाज में व्याप्त अनेक प्रकार की जड़ता पर प्रहार किया। समाज को अनेक प्रकार के बंधनों से मुक्त करने के लिए अपने आराध्य की भक्ति के माध्यम से जनजीवन में नवीन आशा का संचार किया। भारतीय समाज के ये संत सांसारिकता से दूर रहकर भी समाज में व्याप्त रुढियों के प्रति जनता को जागरूक करते थे। प्रस्तुत शोध पत्र में संतों के उस प्रदेय को उद्घाटित किया गया है, जिसका ऋणी समूचा हिन्दी जगत ही नहीं बल्कि समस्त मानव संसार है।

बीज शब्द : *संत साहित्य, धार्मिक साहित्य, आध्यात्मिक चेतना, अस्तेय, अपरिग्रह, बन्धुत्त्व, प्रदेय, बाह्याचार, विस्मयकारी, धार्मिक कर्मकांड, सत्संगति, दुरूह त्याग, सहजता, सरलता।*

संत साहित्य भारतीय समाज का प्राण है। संतों ने समाज को जिस मार्ग की तरफ चलने का समय-समय आह्वान किया, वास्तव में वही मानव जीवन का श्रेष्ठ मार्ग है। संतों ने समाज को भीतर से जगाने तथा बदलने का महत्त्वपूर्ण प्रयास किया। उनका यह प्रयास वास्तव में अतुलनीय है। एक ऐसे समय में जबकि समाज के भीतर अनेक प्रकार की कुरीतियाँ ही रीति के नाम पर प्रचलित हो गई थीं, उस दौर में यह कार्य बहुत महत्त्वपूर्ण था। इतिहास में उसकी मिसाल मिलना कठिन है। आज जब हम बहुत प्रकार से सुसज्जित तथा सुशिक्षित हो गए हैं तब भी यह काम सरल नहीं है। ऐसे में एक ऐसे काल की काल्पना जो अनेक स्तरों पर विभाजित था, जिसके खंडित होने का कोई भी स्तर नहीं बचा था, उस दौर में संतों का यह योगदान भारत की सांस्कृतिक एकता में बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। आदिकालीन धार्मिक साहित्य नाथ साहित्य, जैन साहित्य से लेकर मध्यकालीन संत साहित्य तक में यह अनुगूँज सुनी जा सकती है। गोरखनाथ, कबीरदास, रैदास, दादू, रज़्जब तथा गुरुनानक ऐसे ही संत थे, जिन्होंने समाज में व्याप्त पाखंडों और कुरीतियों के विरुद्ध आवाज उठाई। संतों ने मानव कल्याण के लिए जो कुछ भी संभव था, वह सब किया। सामाजिक अंधकार तथा अज्ञानता के उस युग में संतों ने ज्ञान की महिमा का अद्भुत वर्णन किया। ये सभी संत निम्न जाति से थे, किन्तु इनकी ज्ञान की चेतना उच्च कोटि की थी। उनकी वाणी

शाश्वत थी, जिस कारण काल की किसी भी गति का प्रभाव उसे कमतर नहीं कर सका है।

रामस्वरूप चतुर्वेदी का विचार है कि "किसी भी साहित्य के आरंभ की पहचान वहाँ की जा सकती है, जहां वह धार्मिक कर्मकांड और रहस्य भावना से क्रमशः उन्मुक्त हो रहा है। संगीत, नृत्य, नाट्य और चित्रकला के बारे में भी यह बात सच होगी। इस दृष्टि से हिन्दी में सिद्धों-नाथों (9.12 शती ई) से लेकर कबीरदास तक यह प्रक्रिया देखी जा सकती है।"**1** यह तो सत्य है कि हिंदी साहित्य को जन्म देने का श्रेय बौद्ध-सिद्धों को जाता है, जिनकी परंपरा का विकास बौद्ध धर्म की वज्रयान शाखा से है। राहुल सांकृत्यायन ने सरहपाद को प्रथम सिद्ध मानते हुए उनका समय 8वीं शताब्दी स्वीकार किया है। सरहपाद को सरोरुहपाद, सरोज वज्र तथा राहुल वज्र के नाम से भी जाना जाता है। ये अपने समय के सबसे बड़े शिक्षा केंद्र नालंदा के छात्र और अध्यापक दोनों ही थे। उस दौर में नालंदा भारतीय शिक्षा का सबसे महत्त्वपूर्ण केंद्र था, जहाँ पर प्रवेश पाना अत्यंत कठिन था। कुछ लोगों ने सरहपाद को जाति से ब्राह्मण कहा है। ब्राह्मण होकर ब्राह्मणवाद का विरोध अपने आप में बहुत ही महत्वपूर्ण है। उन्होंने धार्मिक कर्मकांड और जाति-पाति का खुला विरोध किया। जातिगत भेदभाव को लेकर जिस तरह की आक्रामकता, उग्रता और तीखापन इनके स्वर में परिलक्षित होता है, उस तरह की आक्रामकता आगे चलकर कबीर के स्वर में ही सुनाई पड़ती है। प्रसिद्ध विद्वान् बच्चन की दृष्टि में "आक्रोश की भाषा का पहला प्रयोग सरहपाद में ही दिखाई देता है।"**2** यद्यपि इनकी भाषा में पारलौकिकता तथा आध्यात्मिकता का भी दर्शन होता है, किन्तु इनमें अपने समय और समाज की रुढियों और मेखलाओं को तोड़ने का कठोर आग्रह भी है। इस सत्य की ओर संकेत करते हुए विद्वान् समीक्षक प्रभाकर श्रोत्रिय कहते हैं कि "सिद्धों और नाथों की बानियों में चाहे जितनी पारलौकिकता और आध्यात्मिकता हो, इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता कि उन्होंने समाज की स्थापित रूढ़ियों और मेखलाओं को तोड़ने में जिस कठोर भाषा-चरित्र का प्रमाण दिया, वह उनके प्रखर आक्रोश का ही नहीं, उनके अकलुष जनप्रेम का प्रतीक भी है।"**3** संतों के भीतर धर्म, जाति, वर्ण तथा संप्रदाय आदि को लेकर गजब का आक्रोश था। सामाजिक विषमता और अमानवीयता से ये संत अत्यंत मर्माहत थे। राजा और प्रजा तथा अमीरी और गरीबी के मध्य फैले हुए अंतराल का सीधा साक्षात्कार उस सामंती काल में इन संतों द्वारा किया जाना, इनकी विस्मयकारी संवेदना का अद्भुत प्रमाण है।

एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात यह है कि हिंदी साहित्य की शुरुआत सिद्धों द्वारा जन भाषा में (अपभ्रंश) बौध धर्म के प्रचार-प्रसार हेतु दिए गए प्रवचनों से होती है, जिसका समय 8वीं शताब्दी से लेकर 13 वीं शताब्दी तक स्वीकार किया जाता है। ये देश के पूर्वी हिस्से बंगाल, आसाम, उड़ीसा तथा बिहार में फैले हुए थे। इनके साहित्य को सिद्ध साहित्य कहा जाता है। इस विषय में आचार्य रामचंद्र शुक्ल का विचार है कि बौद्ध धर्म विकृत होकर वज्रयान संप्रदाय के रूप में देश के पूरबी भाग में बहुत दिनों से चला आ रहा था। ये बिहार से लेकर आसाम तक फैले थे और सिद्ध कहलाते थे। चौरासी सिद्ध इन्हीं में हुए हैं जिनका परंपरागत स्मरण जनता को अब तक है।"**4** शुक्लजी ने जिन चौरासी सिद्धों की चर्चा की है, उनमें अधिकांश सिद्धों की रचनाओं के बारे में प्रामाणिक रूप से कुछ भी कह पाना संभव

नहीं है। जिनकी रचनाएँ प्राप्त हो सकीं हैं उनमें 'सिद्ध सरहपा, शबरपा, लुईपा, दाकिरपा, डोम्बिपा, भुसुकपा, टोंटिपा और कण्हपा आदि प्रमुख हैं। इसमें भी सरहपा तथा कण्हपा की रचनात्मक सामग्री ज्यादा प्राप्त हुई है। इनकी कृतियों के विश्लेषण से उस काल की सामाजिक-आर्थिक स्थिति का अंदाजा लगाया जा सकता है तथा परवर्ती निर्गुण संत काव्य पर भी इनके प्रभाव का आकलन किया जा सकता है। इन सिद्धों ने सामाजिक स्तर पर प्रचलित जातिगत भेदभाव, धार्मिक कर्मकांड तथा बाह्य आडंबरों का तीखा विरोध किया। यही गूंज आगे चलकर कबीर आदि संत कवियों में परिलक्षित होती है। इस विषय में बच्चन सिंह का विचार है कि सिद्ध जाति-पाति की प्रथा, ऊँच-नीच का भेद, शास्त्र विजड़िततत्त्ववाद और बाह्य आडंबर का विरोध करते हैं.....उनकी भूमिका निःसंदेह प्रगतिशील है। वे अत्यंत तीखे और दो टूक ढंग से उनका खंडन करते थे। बाद में खंडन का यह स्वर कबीर में और भी जोरदार ढंग से प्रतिध्वनित हुआ।"**5**

इन सिद्धों में समाज की सभी जातियां ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र शामिल थीं। इनके बीच कोई जातिगत भेदभाव नहीं था। एक प्रकार से यहाँ आकर सभी प्रकार के भेद खत्म हो जाते थे। इसमें शूद्रों की संख्या सर्वाधिक थी, जो विभिन्न प्रकार का काम करके अपनी जीविका चलाते थे। इनमें कोई कारीगरी का काम करता था तो कोई खेती-बाड़ी करके जीवन-यापन करता था। कोई मछुआरे का काम करता था तो कोई तेल निकलता था और कोई भाड़े गढ़ता था। इस समय के सामंती समाज में खेती का काम समाज की छोटी जातियों के हाथों में आ गया था, जिस कारण उनके भीतर की हीन भावना थोड़ी कम हो गयी थी। इसलिए ऊँची जातियों के विरोध में खड़े होने में इन्हें थोडा बल मिला। बच्चन सिंह तो इन सिद्धों के नामों की ओर इशारा करते हुए यहाँ तक कहतें हैं कि "सिद्धों ने अपने लिए जो नाम चुने हैं वे द्विजजातियों को मुंह चिढाते हैं। शबरिपा, चमरिपा, कुक्कुरिपा, डोम्बिपा आदि ऐसे ही नाम हैं।"**6**

संतों ने भारतीय समाज की चेतना को जगाने में जिस अहम भूमिका का निर्वहन किया था, वह भारत के इतिहास में अद्भुत तथा अविस्मरणीय है। ये संत भीतर से समाज और संसार के परिवर्तन के पक्षधर थे। वे इस तथ्य से भलीभाँति परिचित थे कि वास्तविक परिवर्तन अंतः को बदले बिना संभव नहीं। जो भी बदलाव मनुष्य की आत्मा में परिष्कार के बिना होता है, वह शुद्ध रूप से दिखावटी और बनावटी होता है। उससे सद्वृत्ति के स्थान पर उल्टे ढोंग और पाखंड को ही बढ़ावा मिलता है। इसलिए इन संतों ने अपने समय मे प्रचलित समस्त संप्रदायों एवं साधना-पद्धतियों का विरोध करते हुए एक ऐसी साधना पद्धति की नींव रखी, जो सबको ग्राह्य और स्वीकार्य थी। सिद्ध सरहपा ने जिस साधना पद्धति की बात कही उसे 'सहजयान' या 'सहजिया संप्रदाय' के नाम से जाना जाता है। अपनी साधना-पद्धति में वे सहज स्वाभाविक जीवन-पद्धति पर विशेष बल देते हैं और समाज के सभी वर्गों की मुक्ति का रास्ता प्रशस्त करते हैं। संतों द्वारा प्रशस्त साधना की इस सहज स्वाभाविक पद्धति ने देश की बिखरी हुई ताकत को एकत्र करने में अहम भूमिका निभायी थी। संतों का 'सहज मार्ग' सामाजिक उपादेयता की दृष्टि से एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण धार्मिक क्रांति की तरह से था, जिसने समाज के उस वंचित वर्ग को जोड़ा जो लंबे समय से धर्म और समाज की बेड़ियों मे जकड़ी हुई थी। समाज को भीतर

शब्द–ब्रह्म
E ISSN 2320 – 0871
भारतीय भाषाओं की अंतर्राष्ट्रीय मासिक शोध पत्रिका 17 जून 2025
पीअर रीव्यूड रेफ्रीड रिसर्च जर्नल

से बदल देने के संतों के आग्रह ने आचरण और जीवन की कृत्रिमता को मिटा दिया। कृत्रिमता जीवन में एक बनावटीपन को जन्म देती है तथा बहुत सारे पाखंड और कुरीत्यिों को भी अपने साथ ले आती है। बौद्ध-सिद्ध साहित्य में जीवन की सहजता पर इसलिए भी विशेष बल दिया गया, क्योंकि उस काल में अनेक धर्मों ने जीवन की स्वाभाविकता पर अंकुश लगाकर उसे अति कृत्रिम और असहज बना दिया था, जो इन संतों को स्वीकार नहीं था। इसलिए उन्होंने इसके विपरीत जीवन की सहज अवस्था (सहजता) पर बल दिया। सिद्ध सरहपा, मत्स्येन्द्रनाथ एवं गोरखनाथ का आविर्भाव समय के जिस दौर में हुआ वह चरम सामाजिक रूढ़ियों का काल था। समाज के भीतर कई चरण बन चुके थे, जिनसे मुक्ति आसान नहीं थी। इसलिए समय की ही यह मांग थी कि एक नवीन व्यवस्था बनायी जाए। इन संतों ने उसी नूतन मार्ग का आह्वान किया था, जिसे अध्यात्म की भाषा में 'सहज मार्ग' की संज्ञा दी गई है। यही वह मार्ग था, जिस पर समाज का निचला तबका एक साथ खड़ा हो सकता था। इस मार्ग का प्रचलन किसी धार्मिक क्रांति से कम नहीं था। आगे चलकर कबीर ने इसी पंथ से एक बड़ी सामाजिक क्रांति को जन्म दिया।

यद्यपि 'सहज' शब्द का प्रयोग सभी संत समुदाय में समान रूप से नहीं किया गया है। नाथपंथियों के यहाँ शून्य और सहज को अभेद मानते हुए शून्य हो जाने की अवस्था को ही नाथपंथी योगियों ने सहस्रार चक्र को ही शून्य माना है अर्थात जहाँ पहुंचकर जीव सभी सांसारिक प्रपंचों से ऊपर उठ जाता है।" 'सहज अवस्था' के रूप में बताया गया है। बौद्ध-सिद्धों ने शून्य को 'परमपद' कहा है, जहाँ पहुंचकर साधक को परमानन्द की महानुभूति होती है तथा जिसे गुरु के सान्निध्य तथा उपदेश से ही पाया जा सकता है। यही कारण है कि सिद्धों ने 'गु महिमा' को पर्याप्त महत्त्व दिया तथा उसे अर्थात गुरु को बहुत ही ऊच्च पद पर प्रतिष्ठित भी किया। उनकी दृष्टि में गुरु का स्थान वेद एवं समस्त शास्त्रों से भी ऊँचा है। गुरु ही सहजानंद से साधक को जोड़ता है। गुरु के अभाव में कुछ भी संभव नहीं। जिसने गुरु की शिक्षा से कुछ नहीं सीखा उसका जीवन निरर्थक है। वे कहतें हैं कि जिसने गुरु के उपदेश का अमृतपान नहीं किया, वह शास्त्रों की मरुभूमि में प्यास से व्याकुल होकर मर जाएगा :

गुरु के वचन अमियरस धाइ न पीयेउ जेहि।
बहु शास्त्रार्थ मरुस्थले, तृषितै मरीबों तेहि द्या।**7**

अद्भुत सन्देश है यहा बिना गुरु के कुछ भी संभव नहीं। गुरु वह मार्ग-प्रकाश है, जिसके ज्ञान की रोशनी में साधक जीवन के समस्त संकटों पर विजय हासिल करता है। गुरु सत्य-असत्य के मध्य हमारी विवेक शक्ति को जगाता है। इसीलिए शिष्य की चेतना को जागृत करने में गुरु की भूमिका सबसे बड़ी है। यह बात सिद्ध साहित्य से लेकर पूरे भक्ति साहित्य में सामान रूप से कही गयी है। सिद्ध एवं नाथ संतों ने केवल गुरु के महत्त्व पर ही प्रकाश नहीं डाला बल्कि अपने संदेश से समाज के भीतर अहर्निश फैल रही सामाजिक कुरीतियों का भी जमकर विरोध किया। सिद्ध सरहपा और गोरखनाथ इसके सबसे बड़े उदाहरण हैं। इसलिए इनका महत्त्व इस बात में भी है कि उन्होंने अपने समय में प्रचलित समस्त रुढियों और पाखंडों का भी जमकर विरोध किया था। इस क्रम में उन्होंने वेद, पुराण तथा शास्त्रों के नाम पर प्रचलित मिथ्याचार का भी खुला प्रतिकार किया। जाति,

शब्द–ब्रह्म
E ISSN 2320 – 0871
भारतीय भाषाओं की अंतर्राष्ट्रीय मासिक शोध पत्रिका 17 जून 2025
पीअर रीव्यूड रेफ्रीड रिसर्च जर्नल

वर्ण, धर्म, संप्रदाय समस्त की सत्ता को खुली चुनौती दी। समाजमें ब्राह्मण सत्ता को चुनौती देते हुए प्रथम बौद्ध-सिद्ध सरहपा का यह सन्देश अपनी फटकार में मध्यकालीन संत कबीरदास की याद दिलाता है "ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से पैदा हुए थे, लेकिन अब तो वह वैसे ही पैदा होता है जैसे अन्य लोग। तो फिर उसकी श्रेष्ठता कहाँ ? यदि संस्कार से ही ब्राह्मणत्व होता है तो फिर चांडाल को अच्छे संस्कार देकर ब्राह्मण क्यों नहीं बना देते ? यदि आग में घी डालने से ही मुक्ति मिलती तो यह अधिकार सबको क्यों नहीं देते ? होम करने से मुक्ति मिलती है यह पता नहीं किन्तु धुआं लगने से आखों को कष्ट जरुर होता है। अपने समय में नग्न साधुओं (दिगंबर) को सन्देश देते हुए वे कहते हैं यदि नग्न रहने मात्र से ही मुक्ति मिल जाए तो फिर सियारों और कुत्तों को भी मुक्ति मिल जानी चाहिए। यदि बाल बढ़ाने से ही मोक्ष मिल जाता तो मोर इसके प्रथम अधिकारी होते। इस तरह इन संतों ने वेद, पुराण तथा ब्राह्मण सबकी सत्ता को चुनौती देकर अपने तत्कालीन समाज में आशा का संचार किया था। साथ ही अपनी रहस्यात्मक अनुभूतियों तथा जनभाषा (देशी भाषा) के माध्यम से परवर्ती साहित्य के लिए श्रेष्ठ मार्गदर्शन का कार्य भी किया, जिसका प्रभाव परवर्ती भक्तिकालीन संत साहित्य पर स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

भक्तिकालीन संत साहित्य की चेतना की पृष्ठभूमि में पूर्ववर्ती सिद्ध एवं नाथ साहित्य का गंभीर और महत्त्वपूर्ण प्रभाव देखा जा सकता है। कहा तो यह भी जाता है कि संत साहित्य पूर्ववर्ती नाथ साहित्य का ही विकसित रूप है। आदिकालीन धार्मिक साहित्य की सामाजिक चेतना को कबीर ने एक व्यापक रूप दिया तथा मनुष्य-मनुष्य के मध्य फैले हुए भेदभाव को मिटाने का हर संभव प्रयास किया। इस दृष्टि से कबीर की भूमिका बहुत ही महत्त्वपूर्ण है इस बात की ओर संकेत करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का विचार है कि "उपासना के बाह्य स्वरूप पर आग्रह करने वाले और कर्मकांड को प्रधानता देने वाले पंडितों और मुल्लों दोनों को उन्होंने खरी-खरी सुनाई और राम रहीम की एकता समझ कर हृदय को शुद्ध और प्रेममय करने का उपदेश दिया। देशाचार और उपासना-विधि के कारण मनुष्य-मनुष्य में जो भेदभाव उत्पन्न हो जाता है उसे दूर करने का प्रयास उनकी वाणी बराबर करती रही। यद्यपि वे पढे-लिखे नहीं थे पर उनकी प्रतिभा बड़ी प्रखर थी, जिससे उनके मुंह से बड़ी चुटीली और व्यंग्य-चमत्कार पूर्ण बातें निकलतीं थीं।"**8** इन संतों की दुनिया में निरक्षर और निम्न जाति के लोग बहुत थे, जिनके ऊपर अनेक प्रकार की सामाजिक बंदिशें थीं। ये अनेक प्रकार की कुरीतियों और धार्मिक पाखंड के शिकार थे। इसलिए ये अपने बाहर की दुनिया से बेखबर होकर शून्य हो जाने और आत्मस्थ होने की बात करते थे। शून्य हो जाने का मतलब अपने चारों तरफ जो झूठ, पाखंड, लालच, बेईमानी और ठगी का कचरा है, उससे दूर हो जाओ। तभी उस परम सत्य का अनुभव किया जा सकता है। वास्तव में जीवन के छल तथा छद्म से पृथक होकर ही हम सत्य का साक्षात्कार कर सकतें हैं। इसी बात को कबीर साहब कहते हैं :

कबीरा तेरी झोपड़ी, गल कटीयन के पास।
जैसी करनी वैसी भरनी, तू क्यों भया उदास।।**9**

अर्थात बाहर बहुत गंदगी है। उस गंदगी को अपने भीतर लाने की क्या जरूरत है ? सबको अपनी-अपनी करनी का फल मिलता ही है। बाहर जो कुछ चलना है, चले, तू उसकी उदासी अपने

ऊपर क्यों आने दे रहा है ? बाहरी जगत में तो अनेक प्रकार के विकार भरे हुए हैं। उनसे प्रभावित होने की जरूरत ही क्या है ? संतों ने बाहर की किसी चीज को यदि ठीक रखने की बात कही है तो वह है संगति। संगति को ठीक रखिए। अगर आपकी संगति गलकटियन (अर्थात गला काटने वाले हिंसक एवं क्रूर लोग) की है तो आप भी वैसे ही हो जाएंगे। इसलिए जरूरत है सतसंगति की, लेकिन उससे ज्यादा जरूरी है अपनी आत्मा को पवित्र बनाए रखने की। तब सब कुछ बदल जाएगा, भीतर भी और बाहर भी। वस्तुतः कबीर बनारस में जिस जगह पर रहते थे वहां कसाइयों की बस्ती थी, जहां से बकरे एवं सूअर काटने की आवाजें आया करती थीं। इसीलिए कबीर स्वयं को संबोधित करते हुए कहते हैं कि बाहर से आवाजें आ रहीं हैं उस पर ध्यान देकरए अपना ध्यान क्यों भंग करते हो ? तुम उदास होने की बजाय भीतर से अपने को साफ रखो, रिक्त हो जाओ, बाहर की गंदगी को अपने भीतर आने ही मत दो। वास्तव में अध्यात्म का तात्पर्य ही आंतरिक परिवर्तन से है। आंतरिक परिवर्तन की शुरुआत होने मात्र से ही बाहरी जगत में परिवर्तन स्वयमेव होने लगता है। इसी को संतों ने आध्यात्मिक यात्रा की संज्ञा दी है, जो साधक के अन्तः से आरंभ होती है। यही भारतीय चिंतन परंपरा की अन्तःजगत से बाह्य जगत की यात्रा है तथा यही बुद्ध का 'अप्प दीपो भव' अर्थात अपने दीपक आप बनो का संदेश है, जो आदिकालीन धार्मिक साहित्य से लेकर मध्यकालीन संत साहित्य तक की चेतना मे विद्यमान है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1 रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद, विद्यार्थी संस्करण, पृष्ठ 23

2 बच्चनसिंह, हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास संशोधित परिवर्धित संस्करण 2000, पहली आवृत्ति 2000 पृष्ठ 30

3 प्रभाकरश्रोत्रिय, साहित्य की इतिहास दृष्टि, वाणी प्रकाशन 2010 प्रथम संस्करण, पृष्ठ 16

4 रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, संशोधित परिवर्धित, चौंतीसवां संस्करण प्रकाशन नागरी प्रचारिणी सभा काशी, पृष्ठ 3

5 सिंह बच्चन, हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास संशोधित परिवर्धित संस्करण 2000 पहली आवृत्ति 2000 पृष्ठ 30

6 वही

7 गुरु के वचन अमिय रस सरहपा

8 रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, संशोधित परिवर्धित चौंतीसवां संस्करण प्रकाशन नागरी प्रचारिणी सभा काशी, पृष्ठ 44

9 शून्यता या संग्राम